Shikshan Sanshodhan : Journal of Arts, Humanities and Social Sciences ISSN(o): 2581-6241
Monthly, Peer-Reviewed, Refereed, Indexed Journal Impact Factor: 9.134
Volume - 9, Issue - 3, March - 2026

DOIs:10.2018/SS/202603015 --:-- Research Paper / Article / Review

नारीवादी इतिहास-लेखन और आधुनिक भारतीय इतिहास

(स्रोत, स्वर और सत्ता की पुनर्व्याख्या: एक ऐतिहासिक-आलोचनात्मक अध्ययन)

कृष्ण कुमार सिंह
अतिथि प्रवक्ता (इतिहास विभाग),
कालिंदी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय नई दिल्ली
Email - kks.kashi@gmail.com

सार (Abstract): यह शोध-पत्र आधुनिक भारतीय इतिहास-लेखन में नारीवादी दृष्टिकोण के उदय, उसकी पद्धतिगत विशिष्टताओं और उसके द्वारा प्रस्तुत चुनौतियों का विश्लेषण करता है। परंपरागत औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन में स्त्री प्रायः एक निष्क्रिय विषय के रूप में उपस्थित रही, जबकि नारीवादी इतिहासकारों ने उसे इतिहास के केंद्र में स्थापित करने का प्रयत्न किया। लता मणि, पार्था चटर्जी, उमा चक्रवर्ती, तनिका सरकार, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक तथा सूसी थारू एवं के. ललिता जैसे विद्वानों के कार्यों के आधार पर यह पत्र दर्शाता है कि किस प्रकार सती-प्रथा पर औपनिवेशिक बहस, राष्ट्रवादी "स्त्री-प्रश्न", जाति-आधारित पितृसत्ता, तथा हिंदू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में स्त्री-शरीर की भूमिका — इन सभी क्षेत्रों में स्त्री की आवाज़ को या तो नियंत्रित किया गया या पूर्णतः अनुपस्थित रखा गया। यह पत्र यह भी परीक्षण करता है कि नारीवादी इतिहासकारों ने अभिलेखीय स्रोतों, आत्मकथाओं और साहित्यिक ग्रंथों के माध्यम से स्त्रियों की उपेक्षित आवाज़ों को किस प्रकार पुनः प्राप्त करने का प्रयास किया। निष्कर्षतः यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि नारीवादी इतिहास-लेखन केवल स्त्रियों को इतिहास में "जोड़ने" की परियोजना नहीं, बल्कि इतिहास-लेखन की स्वयं की श्रेणियों, स्रोतों और सत्ता-संरचनाओं पर प्रश्न उठाने वाली एक मौलिक पद्धतिगत हस्तक्षेप है।

कूट-शब्द (Keywords): नारीवादी इतिहास-लेखन, स्त्री-प्रश्न, सती, पितृसत्ता, जाति, राष्ट्रवाद, अधीनस्थ (subaltern) इतिहास ।

1. शोध पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन गुणात्मक एवं आलोचनात्मक साहित्य-समीक्षा (critical literature review) पद्धति पर आधारित है। इसमें नारीवादी इतिहास-लेखन के क्षेत्र के मूलभूत ग्रंथों, संपादित निबंध-संग्रहों तथा साहित्यिक अभिलेखों का विश्लेषण किया गया है। पद्धतिगत दृष्टि से यह अध्ययन तीन परस्पर संबद्ध प्रश्नों पर केंद्रित है — प्रथम, औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन में स्त्री का प्रतिनिधित्व किस प्रकार किया गया; द्वितीय, नारीवादी इतिहासकारों ने इन प्रतिनिधित्वों की आलोचना किस पद्धति से की; और तृतीय, जाति, वर्ग तथा धार्मिक पहचान के प्रतिच्छेदन (intersection) ने स्त्री के ऐतिहासिक अनुभव को किस प्रकार विभेदित किया। यह अध्ययन किसी एक क्षेत्रीय या भाषिक संदर्भ तक सीमित न रहकर भारतीय नारीवादी इतिहास-लेखन की व्यापक बौद्धिक धारा को समझने का प्रयास करता है।

2. भूमिका

आधुनिक भारतीय इतिहास-लेखन की एक लंबी परंपरा रही है जिसमें राजनीतिक घटनाओं, राष्ट्रवादी आंदोलनों और महापुरुषों की जीवनियों को केंद्रीय स्थान दिया गया, जबकि स्त्रियों का अनुभव या तो हाशिये पर रखा गया या उन्हें केवल "सुधार" की निष्क्रिय प्राप्तकर्ता के रूप में चित्रित किया गया। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में, विशेषकर सबाल्टर्न स्टडीज़ और अंतरराष्ट्रीय नारीवादी आंदोलन के प्रभाव से, भारतीय इतिहासकारों के एक समूह ने यह प्रश्न उठाना आरंभ किया कि इतिहास स्वयं

किन श्रेणियों, किन स्रोतों और किन मौन-स्थलों (silences) पर निर्मित है। कुमकुम संगरी और सुदेश वैद के अनुसार यह नारीवादी हस्तक्षेप अकादमिक जिज्ञासा से कहीं अधिक, स्वयं शोधकर्ताओं और कार्यकर्ताओं की उस आवश्यकता से उपजा जिसमें वे उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझना चाहती थीं जिन्होंने औपनिवेशिक भारत में पितृसत्ता को पुनर्गठित किया (संगरी एवं वैद, 1989, पृ. 1)।

यह शोध-पत्र इसी बौद्धिक परियोजना की पड़ताल करता है। इसका केंद्रीय तर्क यह है कि नारीवादी इतिहास-लेखन केवल स्त्रियों को इतिहास की कथा में "जोड़ने" तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने इतिहास-लेखन की बुनियादी पद्धति — कौन बोलता है, किसके लिए बोलता है, और किसकी अनुपस्थिति में बोला जाता है — पर ही एक मौलिक प्रश्नचिह्न लगाया। सती-प्रथा पर औपनिवेशिक बहस से लेकर जाति-आधारित पितृसत्ता की संरचना तक, और हिंदू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में स्त्री-शरीर की केंद्रीयता से लेकर साहित्यिक अभिलेखों में स्त्री-स्वर की पुनर्प्राप्ति तक, यह पत्र भारतीय नारीवादी इतिहास-लेखन की विविध धाराओं को एक साथ जोड़कर देखने का प्रयास करता है।

3. सैद्धांतिक ढाँचा: कौन बोलता है, किसके लिए?

गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक का प्रसिद्ध निबंध "क्या अधीनस्थ (subaltern) बोल सकता है?" नारीवादी इतिहास-लेखन के लिए एक आधारभूत सैद्धांतिक चुनौती प्रस्तुत करता है। स्पिवाक सती-प्रथा के औपनिवेशिक उन्मूलन का विश्लेषण करते हुए दिखाती हैं कि इस बहस में स्त्री स्वयं कभी विषय (subject) के रूप में उपस्थित नहीं थी — एक ओर औपनिवेशिक अधिकारियों ने इसे "श्वेत पुरुषों द्वारा भूरे पुरुषों से भूरी स्त्रियों की रक्षा" के रूप में प्रस्तुत किया, तो दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रवादी पुरुषों ने यह दावा किया कि "स्त्रियाँ स्वयं मरना चाहती थीं" (स्पिवाक, 1988, पृ. 297)। इस दोहरे विस्थापन (double displacement) में विधवा स्त्री की अपनी आवाज़ पूर्णतः लुप्त हो जाती है — वह न तो औपनिवेशिक आख्यान में बोल पाती है, न ही राष्ट्रवादी प्रति-आख्यान में। स्पिवाक का यह विश्लेषण भारतीय नारीवादी इतिहासकारों के लिए एक कार्यप्रणालीगत चेतावनी बन गया — कि स्त्री के "उद्धार" या "प्रतिनिधित्व" का दावा करने वाला कोई भी आख्यान स्वयं स्त्री की अनुपस्थिति पर टिका हो सकता है।

चंद्रा तल्पडे मोहंती ने एक समानांतर किंतु भिन्न आलोचना प्रस्तुत की। उनके अनुसार पश्चिमी नारीवादी विद्वत्ता ने प्रायः "तीसरी दुनिया की स्त्री" को एक समरूप, अशक्त और पीड़ित श्रेणी के रूप में निर्मित किया, जिससे विभिन्न भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में स्त्रियों के भिन्न-भिन्न अनुभवों की विविधता तथा उनकी अपनी अस्मिता (agency) की उपेक्षा हुई (मोहंती, 1988, पृ. 61-88)। मोहंती का तर्क भारतीय नारीवादी इतिहासकारों के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक रहा है, क्योंकि इसने उन्हें केवल पश्चिमी नारीवादी सिद्धांत को यथावत आयातित करने के बजाय भारतीय सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ की विशिष्टताओं — जाति, धर्म, क्षेत्रीय भाषा और वर्ग — के प्रति संवेदनशील एक स्वतंत्र पद्धति विकसित करने हेतु प्रेरित किया।

4. औपनिवेशिक भारत में स्त्री-प्रश्न: सती और सुधार आंदोलन

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में सती-प्रथा पर हुई बहस भारतीय नारीवादी इतिहास-लेखन के सबसे अधिक विश्लेषित प्रकरणों में से एक रही है। लता मणि के अनुसार 1780 के आसपास ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक संस्था से एक औपनिवेशिक, राजस्व-संग्रहक राज्य में रूपांतरित होने लगी थी, और यह रूपांतरण "प्रभुत्व और अधीनता के संबंधों से संरचित एक जटिल मध्यस्थता" पर आधारित था (मणि, 1998, पृ. 13)। मणि का केंद्रीय तर्क यह है कि सती पर हुई यह पूरी बहस — जिसमें औपनिवेशिक अधिकारी, हिंदू पंडित, बंगाली भद्रलोक और ईसाई मिशनरी सम्मिलित थे — वस्तुतः स्त्री के जीवन या मृत्यु के प्रश्न पर केंद्रित नहीं थी, बल्कि यह "सच्ची" हिंदू परंपरा की परिभाषा, धर्मशास्त्रीय प्रामाणिकता और औपनिवेशिक राज्य की उचित भूमिका को लेकर पुरुषों के बीच का एक वाद-विवाद था, जिसमें जलती हुई स्त्रियों की स्वयं की गवाही या तो हाशिये पर रखी गई या पूर्णतः अनसुनी कर दी गई।

मणि यह भी दिखाती हैं कि इस बहस में सम्मिलित विभिन्न पक्ष एक-दूसरे से गहराई से असहमत थे, फिर भी वे सभी एक साझा मान्यता पर सहमत थे — कि यह प्रश्न "सच्ची" परंपरा और शास्त्रीय प्रामाणिकता का है, स्त्री के जीवित अनुभव का नहीं। ईसाई मिशनरियों ने सती को हिंदू धर्म की बर्बरता का प्रमाण मानकर उसका प्रचार-प्रसार में उपयोग किया, जबकि बंगाली भद्रलोक सुधारकों ने इसे शास्त्र-विरुद्ध कुप्रथा सिद्ध करने के लिए प्राचीन ग्रंथों की पुनर्व्याख्या में जुट गए। इन दोनों पक्षों के बीच जलती चिता पर खड़ी स्त्री की अपनी गवाही केवल एक सांकेतिक साक्ष्य बनकर रह गई, जिसे दोनों पक्ष अपने-अपने तर्कों के समर्थन में उद्धृत करते रहे। पार्था चटर्जी ने इस औपनिवेशिक-राष्ट्रवादी वाद-विवाद को एक व्यापक सैद्धांतिक ढाँचे में रखा। उनके अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक आते-आते राष्ट्रवादी विमर्श ने स्त्री-प्रश्न को एक विशेष ढंग से "हल" कर दिया — स्त्री को राष्ट्र के आध्यात्मिक, आंतरिक क्षेत्र की संरक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया, जबकि पुरुष को भौतिक, बाह्य और राजनीतिक क्षेत्र का

प्रतिनिधि माना गया (चटर्जी, 1989, पृ. 233)। इस "समाधान" ने विरोधाभासी रूप से स्त्री-शिक्षा और सार्वजनिक जीवन में सीमित भागीदारी को स्वीकार्य बनाया, परंतु साथ ही उसे घर की, परंपरा की और धार्मिक शुद्धता की रक्षक के रूप में एक नई, अधिक सूक्ष्म पितृसत्तात्मक भूमिका में बाँध दिया। चटर्जी दिखाते हैं कि यह "समाधान" वास्तव में समस्या का समाधान नहीं था, बल्कि पितृसत्ता को एक नए, आधुनिक-राष्ट्रवादी स्वरूप में पुनर्संरचित करने की एक युक्ति थी — जो स्त्री को शिक्षित, "सुसंस्कृत" और साथ ही सांस्कृतिक रूप से वशीभूत दोनों बनाए रखती थी।

5. जाति, ब्राह्मणवादी पितृसत्ता और इतिहास का पुनर्लेखन

उमा चक्रवर्ती का योगदान भारतीय नारीवादी इतिहास-लेखन में जाति के प्रश्न को केंद्रीय बनाने में विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहा है। अपने प्रारंभिक निबंध में चक्रवर्ती दिखाती हैं कि किस प्रकार औपनिवेशिक प्राच्यविद्या (Orientalism) और राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन दोनों ने प्राचीन भारत की "वैदिक दासी" (Vedic Dasi) — अर्थात प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित दासी स्त्रियों — के प्रश्न को एक विशेष वैचारिक स्क्रिप्ट के अनुरूप ढाला, जिसमें प्राचीन भारतीय स्त्री की वास्तविक सामाजिक स्थिति की जटिलता को या तो पूर्णतः स्वर्णिम-युगीन गरिमा के आख्यान में घोल दिया गया, या पूर्णतः अनदेखा कर दिया गया (चक्रवर्ती, 1989, पृ. 27)। चक्रवर्ती का यह विश्लेषण दर्शाता है कि राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन ने प्राचीन भारत को एक ऐसे स्वर्णिम युग के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में, जिसमें स्त्री को उच्च सम्मान प्राप्त था, दासता, जाति-आधारित शोषण और स्त्री-अधीनता की वास्तविकताओं को व्यवस्थित रूप से धुँधला कर दिया।

अपने बाद के कार्य में चक्रवर्ती ने "ब्राह्मणवादी पितृसत्ता" (Brahmanical patriarchy) की अवधारणा विकसित की, जिसके अनुसार भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था और स्त्री की अधीनता एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से गुंथी हुई हैं — जाति की शुद्धता को बनाए रखने के लिए स्त्री की यौनिकता (sexuality) और उसके विवाह-संबंधों पर कठोर नियंत्रण आवश्यक समझा गया (चक्रवर्ती, 2003)। इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो स्त्री-प्रश्न को केवल लैंगिक उत्पीड़न के रूप में नहीं, बल्कि जाति, वर्ग और लैंगिक सत्ता-संरचनाओं के प्रतिच्छेदन के रूप में समझा जाना आवश्यक हो जाता है। यह दृष्टिकोण उच्च-जाति, शहरी, अंग्रेज़ी-शिक्षित स्त्रियों के अनुभव को संपूर्ण भारतीय स्त्री-अनुभव के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करने वाले प्रारंभिक नारीवादी इतिहास-लेखन की भी एक महत्वपूर्ण आत्म-आलोचना प्रस्तुत करता है, क्योंकि दलित और निम्न-जाति स्त्रियों का अनुभव अक्सर इस मुख्यधारा नारीवादी आख्यान से बाहर रह जाता था। चक्रवर्ती के अनुसार विवाह की अंतर्विवाही (endogamous) संरचना, कन्यादान की रस्म, और स्त्री की यौनिकता पर लगाए गए कठोर नियंत्रण — ये सभी जाति की "शुद्धता" बनाए रखने के लिए आवश्यक तंत्र थे, जिससे यह स्पष्ट होता है कि पितृसत्ता एक स्वतंत्र, जाति-निरपेक्ष व्यवस्था नहीं, बल्कि जाति-व्यवस्था के भीतर से ही जन्म लेने वाली एक संरचना है।

6. हिंदू राष्ट्रवाद, सांप्रदायिक पहचान और स्त्री का शरीर

तनिका सरकार का कार्य यह दर्शाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल में उभरते हिंदू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ने स्त्री-देह और स्त्री-आचरण को सामुदायिक पहचान की रक्षा का केंद्रीय स्थल बना दिया। सरकार बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के राष्ट्रवादी उपन्यासों, समकालीन घोटालों (scandals), अफवाहों और स्त्रियों के आत्म-वृत्तांतों का विश्लेषण करते हुए यह दिखाती हैं कि किस प्रकार हिंदू पत्नी-धर्म, घरेलूपन और मातृत्व की कल्पनाएँ धीरे-धीरे भारत को एक "हिंदू राष्ट्र" के रूप में कल्पित करने की परियोजना से जुड़ गईं (सरकार, 2001)। इस प्रक्रिया में हिंदू स्त्री एक सामरिक स्थिति में आ गई — वह सामुदायिक शुद्धता और परंपरा की प्रतीक बन गई, जिसकी रक्षा एक निर्मित "मुस्लिम अन्य" या औपनिवेशिक हस्तक्षेप से करना आवश्यक समझा गया।

सरकार का यह विश्लेषण समकालीन भारत के लिए भी विशेष प्रासंगिकता रखता है, क्योंकि यह दिखाता है कि किस प्रकार धार्मिक-राष्ट्रवादी विमर्श में स्त्री-शरीर आज भी एक विवादित राजनीतिक क्षेत्र बना हुआ है। "प्राचीन गौरव" और सांप्रदायिक शुद्धता के नाम पर स्त्री के आचरण, वस्त्र और वैवाहिक चयन को नियंत्रित करने की प्रवृत्तियाँ उसी उन्नीसवीं-शताब्दी की तार्किकता की निरंतरता प्रतीत होती हैं जिसे सरकार ने अपने अध्ययन में उजागर किया। इस प्रकार नारीवादी इतिहास-लेखन न केवल अतीत की व्याख्या करता है, बल्कि वर्तमान की सांप्रदायिक-राजनीतिक संरचनाओं को समझने के लिए भी एक आवश्यक विश्लेषणात्मक उपकरण प्रदान करता है।

7. स्त्री-स्वर की पुनर्प्राप्ति: साहित्य, आत्मकथा और अभिलेखीय इतिहास

नारीवादी इतिहास-लेखन का एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम स्त्रियों की उन आवाज़ों को पुनः प्राप्त करने का प्रयास रहा है जिन्हें मुख्यधारा के अभिलेखों और साहित्यिक इतिहास ने व्यवस्थित रूप से हाशिये पर धकेल दिया था। सूसी थारू और के. ललिता

के दूरगामी संकलन-कार्य ने छब्बीस शताब्दियों में फैले भारतीय स्त्री-लेखन को एकत्रित करने का प्रयास किया, जिसमें बौद्ध भिक्षुणियों के गीतों से लेकर आधुनिक स्त्री-आत्मकथाओं तक शामिल हैं। अपनी भूमिका में थारू और ललिता तर्क देती हैं कि जिस प्रकार पश्चिमी स्त्री-आलोचना (gynocriticism) ने पितृसत्तात्मक साहित्यिक संस्था को संबोधित करते हुए अपनी शिकायतें दर्ज कीं, उसी प्रकार भारतीय स्त्री-लेखन के संकलन का कार्य भी साहित्यिक इतिहास की स्थापित श्रेणियों को चुनौती देने वाला एक राजनीतिक कार्य है (थारू एवं ललिता, 1991, पृ. 27)। उनका यह कार्य दर्शाता है कि स्त्री-लेखन का दस्तावेज़ीकरण न केवल एक अकादमिक अभ्यास है, बल्कि यह अभिलेखीय शक्ति-संरचनाओं के विरुद्ध एक सक्रिय हस्तक्षेप भी है।

गेराल्डाइन फोर्ब्स के व्यापक सर्वेक्षण-कार्य ने उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार आंदोलन से लेकर स्वाधीनता-पश्चात भारत तक स्त्रियों के स्वयं के वृत्तांतों, संगठनों और सार्वजनिक जीवन में उनकी भागीदारी का दस्तावेज़ीकरण किया। फोर्ब्स के कार्य की समीक्षा करते हुए इतिहासकार सुमति रामास्वामी ने इसे नारीवादी विद्वत्ता का उत्सव बताते हुए इस बात पर बल दिया कि इस प्रकार का कार्य हमें लैंगिकता को अपने समस्त वैचारिक ढाँचों में शामिल करने के लिए प्रेरित करता है (फोर्ब्स, 1996, पृ. 9)। फोर्ब्स स्वयं शिक्षा, महिला-संगठनों के उदय, स्वाधीनता आंदोलन में स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में उनके श्रम का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करती हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ इतिहास की निष्क्रिय दर्शक नहीं, बल्कि सक्रिय ऐतिहासिक अभिकर्ता (agents) रही हैं, भले ही मुख्यधारा इतिहास-लेखन ने उन्हें दीर्घकाल तक इस भूमिका में मान्यता न दी हो।

8. निष्कर्ष

इस शोध-पत्र में प्रस्तुत विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि नारीवादी इतिहास-लेखन ने आधुनिक भारतीय इतिहास की समझ को कई मूलभूत स्तरों पर रूपांतरित किया है। स्पिवाक और मोहंती के सैद्धांतिक हस्तक्षेपों ने यह प्रश्न उठाया कि इतिहास में स्त्री का प्रतिनिधित्व किसके द्वारा और किस उद्देश्य से किया जाता है; मणि और चटर्जी के कार्यों ने दिखाया कि औपनिवेशिक-राष्ट्रवादी वाद-विवाद स्वयं स्त्री की उपस्थिति को कैसे अनुपस्थित बना देते हैं; चक्रवर्ती ने जाति और पितृसत्ता के अविभाज्य संबंध को उजागर किया; सरकार ने सांप्रदायिक राष्ट्रवाद में स्त्री-शरीर की केंद्रीयता को स्पष्ट किया; और थारू, ललिता तथा फोर्ब्स ने स्त्रियों के अपने वृत्तांतों और लेखन को पुनः प्राप्त करने का महत्वपूर्ण अभिलेखीय कार्य किया।

इन सभी अध्ययनों से जो साझा निष्कर्ष उभरता है वह यह है कि नारीवादी इतिहास-लेखन केवल स्त्रियों को इतिहास की सूची में जोड़ने की परियोजना नहीं है, बल्कि यह इतिहास-लेखन की स्वयं की पद्धति, उसके स्रोतों की प्रामाणिकता, और उसकी मौन-संरचनाओं पर एक स्थायी आलोचनात्मक निगरानी है। यह दृष्टिकोण हमें यह भी सिखाता है कि किसी भी ऐतिहासिक स्रोत को निष्पक्ष या तटस्थ मानकर स्वीकार नहीं किया जा सकता — प्रत्येक अभिलेख, प्रत्येक कानूनी दस्तावेज़ और प्रत्येक साहित्यिक कृति स्वयं सत्ता के किसी न किसी संबंध से उत्पन्न होती है, और नारीवादी इतिहासकार का कार्य इन संबंधों को उजागर करना है।

समकालीन भारत में, जहाँ जाति, धर्म और लिंग की राजनीति निरंतर नए रूप धारण कर रही है, यह आवश्यक हो जाता है कि इतिहासकार इस नारीवादी आलोचनात्मक विरासत को आगे बढ़ाते हुए यह प्रश्न पूछते रहें कि किसकी आवाज़ अभी भी अनसुनी रह जाती है। भविष्य के शोध के लिए यह भी आवश्यक होगा कि आदिवासी स्त्रियों, अल्पसंख्यक समुदायों की स्त्रियों, और डिजिटल तथा मौखिक इतिहास की उभरती पद्धतियों के माध्यम से उन आवाज़ों को भी सम्मिलित किया जाए जो अभी भी मुख्यधारा नारीवादी इतिहास-लेखन के हाशिये पर बनी हुई हैं। अंततः, नारीवादी इतिहास-लेखन हमें यह स्मरण कराता है कि इतिहास कभी भी पूर्ण या अंतिम नहीं होता — वह सदैव नई आवाज़ों, नए स्रोतों और नई पद्धतियों के माध्यम से पुनर्लेखन की प्रतीक्षा में रहता है।

संदर्भ सूची (References)

1. Chakravarti, U. (1989). Whatever happened to the Vedic Dasi? Orientalism, nationalism and a script for the past. In K. Sangari & S. Vaid (Eds.), Recasting women: Essays in colonial history (pp. 27–87). Kali for Women.
2. Chakravarti, U. (2003). Gendering caste: Through a feminist lens. Stree.
3. Chatterjee, P. (1989). The nationalist resolution of the women's question. In K. Sangari & S. Vaid (Eds.), Recasting women: Essays in colonial history (pp. 233–253). Kali for Women.
4. Forbes, G. (1996). Women in modern India. Cambridge University Press.
5. Mani, L. (1998). Contentious traditions: The debate on sati in colonial India. University of California Press.

6. Mohanty, C. T. (1988). Under Western eyes: Feminist scholarship and colonial discourses. Feminist Review, 30(1), 61–88.
7. Sangari, K., & Vaid, S. (Eds.). (1989). Recasting women: Essays in colonial history. Kali for Women.
8. Sarkar, T. (2001). Hindu wife, Hindu nation: Community, religion, and cultural nationalism. Permanent Black.
9. Spivak, G. C. (1988). Can the subaltern speak? In C. Nelson & L. Grossberg (Eds.), Marxism and the interpretation of culture (pp. 271–313). University of Illinois Press.
10. Tharu, S., & Lalita, K. (Eds.). (1991). Women writing in India: 600 B.C. to the present, Volume I: 600 B.C. to the early twentieth century. Feminist Press.